

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

धर्म-धारणा-प्रकरण

पञ्चमे दिवसे प्रज्ञासत्रस्याथ मनीषिणः ।
ब्रह्मचारिणाः पुण्ये त्रिपुरारण्यके समे ॥ १ ॥
पूर्ववत् पुण्यवेलायां प्रभातस्य समागताः ।
तत्त्वचर्चा विधातुं ते धर्मसारसमुद्भवाम् ॥ २ ॥
टीका—पाँचवें दिन प्रज्ञासत्र के मनीषी ब्रह्मचारीगण त्रिपुरारण्यक में गत दिनों की भाँति प्रभात की पुण्यवेला में धर्म की सारभूता तत्त्वचर्चा के लिए एकत्रित हुए ॥ १-२ ॥
ब्रह्मचारिण उवाच—
आयोजनेन पुण्यस्य ज्ञानसत्रस्य चास्य तु ।
भवतानुगृहीताः स्म महाभाग! वयं समे ॥ ३ ॥
गतिशीलानुकम्पेयं विधेयाऽग्रेऽपि संततम् ।
पायं पायं तु पीयूषमेतत्तृप्तिर्न जायते ॥ ४ ॥
टीका—सभी ब्रह्मचारियों ने समवेत स्वर में कहा, हे महाभाग इस ज्ञान-सत्र का आयोजन कर आपने हम सबके ऊपर महान अनुग्रह किया है। इस अनुकंपा को अभी और गतिशील रखें। इस अमृत को पीते-पीते तृप्ति नहीं होती ॥ ३-४ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—
विगतानां चतुर्णां तु दिनानां हि प्रसंगतः ।
प्रस्तोतव्याः स्वजिज्ञासा अनुरूपाः समा अपि ॥ ५ ॥
आधारं तमुपादाय समाधानमिह स्वयम् ।
विधातुं तु करिष्यामि प्रयासं क्रमशः पुनः ॥ ६ ॥
आह्वानेन महर्षेस्तु स्नेहे नोद्बोधितस्ततः ।
रोमाञ्चितः स्वजिज्ञासामृषिः कौण्डिन्य आह सः ॥ ७ ॥
टीका—सत्राध्यक्ष याज्ञवल्क्य जी ने कहा, आप लोग गत चार दिनों के प्रसंगों के अनुरूप अपनी सभी जिज्ञासा प्रस्तुत करें। उसी आधार पर मैं समाधान करने का क्रमशः प्रयास करूँगा। महर्षि के आह्वान पर उनके स्नेह-उद्बोधन से रोमाञ्चित ऋषि कौण्डिन्य ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की ॥ ५-७ ॥

कौण्डिन्य उवाच—
देव! कर्मव्यवस्थेयमुच्चालब्धिस्तथाऽऽत्मनः ।
व्यावहारिकमेतच्च चित्रणं तपसस्तथा ॥ ८ ॥
योगस्यापि समक्षं नः कृतं गतदिनेष्वहो ।
तन्नास्ति कल्पनीयो नु इत्यस्माकं विनिश्चयः ॥ ९ ॥
जीवने योगतस्त्वेषां जनसाधारणस्य तु ।
आत्मनः प्रगतेर्मार्गः प्रशस्तः संभविष्यति ॥ १० ॥
आशंका पुनरप्येका मनसीयमुदेति नः ।

सनातने तु धर्मस्य रूपे चेश्वरसंस्थितौ ॥ ११ ॥
मतैक्यं नैव भिन्नेषु समुदायेषु दृश्यते ।
विभिन्ना मान्यताः संति समेषां तु निजा निजाः ॥ १२ ॥
विभिन्नमतसंग्रस्ताः संप्रदाय - जनाः समे ।
एषु प्रारंभिकेष्वेव जालेष्वालीन मानसाः ॥ १३ ॥
अधिगच्छन्ति नैवेते परमं सत्यमंततः ।
आत्मनः प्रगतेर्यात्रा तेषां रुद्धाभवत्यतः ॥ १४ ॥
टीका—कौण्डिन्य बोले हे देव आपने कर्म व्यवस्था, उच्चस्तरीय आत्मोपलब्धि एवं व्यावहारिक योग-तप का जो चित्रण हम सबके समक्ष विगत दिनों किया वह अकल्पनीय है, ऐसा हमारा विचार है। इन्हें जीवन में उतारने से निश्चित ही जनसाधारण की आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त होगा। एक आशंका फिर भी मन में उठती है वह यह कि धर्म के सनातन के वर्गों में मतैक्य नहीं दिखाई पड़ता। सबकी अपनी भिन्न प्रकार की मान्यताएँ हैं। विभिन्न मत-संप्रदाय को मानने वाले सांसारिक जन इन प्रारंभिक जंजालों में उलझकर रह जाते हैं, परम सत्य तक नहीं पहुँच पाते। इससे उनकी आत्मिक प्रगति की यात्रा अवरुद्ध हो जाती है ॥ ८-१४ ॥

ईदृशी परिभाषा किं मान्यता सार्वभौमिकी ।
विराट् सत्ता विधौ नैव विनिर्मातुं हि शक्यते ॥ १५ ॥
मतावलंबिनः सर्वे ज्ञात्वा यां भ्रांतितः स्वकान् ।
मुक्तान् कुर्युर्भवेद् येन जगन्निर्वैरविग्रहम् ॥ १६ ॥
धर्मशाश्वत रूपस्य सामान्याय जनाय चेत् ।
ज्ञानं दीयेत तन्नूनं भवत्प्रस्तुतमुत्तमम् ॥ १७ ॥
व्यावहारिकमध्यात्म - प्रतिपादनमाश्रिताः ।
बहुसंख्या - जना - धन्यजीवनाः स्युर्मतं हि न ॥ १८ ॥
ऋषेस्तत्कथनं पुण्यं श्रुत्वा मुदितमानसः ।
याज्ञवल्क्यो महर्षिः स बभाषे हर्षगदगदम् ॥ १९ ॥
टीका—हे देव क्या ऐसी कोई परिभाषा, सार्वभौम मान्यता उस विराट् सत्ता के संबंध में नहीं बनाई जा सकती जिसे जानकर-समझकर जिज्ञासु मतावलंबी जन भ्रांतियों से मुक्त हो सकें? जिससे संसार वैर-विग्रह से मुक्त हो जाए। यदि धर्म के शाश्वत रूप की जानकारी जन-सामान्य को करायी जा सके, तो हमारे विचार से आप द्वारा प्रस्तुत अध्यात्म के इन उत्तम व्यावहारिक प्रतिपादनों का आश्रय लेकर बहुसंख्य व्यक्ति अपना जीवन धन्य बना सकेंगे। ऋषि का वह सुंदर अनुकूल कथन सुनकर प्रमुदित मन से महर्षि याज्ञवल्क्य हर्ष से गदगद होकर बोले ॥ १५-१६ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—
तात! अध्यात्मतत्त्वस्य दर्शनं सुगमं त्विह ।

५.४४ प्रज्ञोपनिषद्

सामान्यजन लाभाय कर्तुं संप्रस्तुता स्वयम् ॥ २० ॥
 भवता यातु जिज्ञासा तृप्तिदा हृदयस्य सा ।
 हृदि जागर्ति साधूनां लोककल्याणकामना ॥ २१ ॥
 गूढतत्त्वांतरालेषु निष्कर्षवाप्तिकाम्यया ।
 यानस्य भावना लोककल्याणी सार्थयेदिमान् ॥ २२ ॥
 तात! धर्मस्तु तां सत्तां परमां गंतुमुन्मुखान् ।
 मार्गानेकतमे सूत्रे बद्धं तंतुरिव स्थितः ॥ २३ ॥
 धर्मस्य लक्ष्यमस्येतन्मानवं प्रापयत्यसौ ।
 चरमं बिंदुसीमानं पूर्णताया युगे युगे ॥ २४ ॥
 शक्तिर्महत्तमा नूनमीश्वरोऽस्ति निराकृतिः ।
 नैकं स्थानं च तस्यास्ति व्याप्तः सर्वत्र स सदा ॥ २५ ॥
 स परोक्षतया चैतान् संचालयति संततम् ।
 ब्रह्मांडस्य समग्रस्य क्रियाश्चापि प्रतिक्रिया ॥ २६ ॥
 ईश्वरस्य समग्रा सा सत्ता प्राणिसुखावहा ।
 नरैर्विज्ञायते धर्म - मार्गं संचलनादिह ॥ २७ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे तात अध्यात्म तत्त्वदर्शन को जन साधारण के लिए सुगम बनाने हेतु प्रस्तुत की गई आपकी जिज्ञासा हृदय को तृप्ति देने वाली है। सज्जनों के हृदय में लोककल्याण कामना सदा जगी रहती है। गूढ़ तथ्यों की गहराई में उतरने तथा निष्कर्षों तक पहुँचने की लोक-कल्याणकारी भावना ही ऐसे समागमों को सार्थक बनाती है।

हे तात धर्म परमसत्ता तक पहुँचने के कई मार्गों को एक सूत्र में बाँधने वाला धागा है। धर्म का लक्ष्य मनुष्य को प्रत्येक युग में पूर्णता के चरम बिंदु तक पहुँचाना है। ईश्वर एक महानतम शक्ति है जिसका कोई आकार नहीं, कोई स्थान नहीं। वह तो सर्वत्र समान रूप से संव्याप्त है। वह परोक्ष रूप से समग्र ब्रह्मांड की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का संचालन कर्ता है। ईश्वरीय सत्ता, जो प्राणिमात्र को सुख देने वाली है, को धर्म के मार्ग पर चलकर ही जाना जा सकता है ॥ २०-२७ ॥

धर्मशब्दस्य संक्षिप्तः सारगर्भश्च विद्यते ।
 अर्थोऽभ्युदयनिःश्रेयः सिद्धिः प्राणिभूतां मुने ॥ २८ ॥
 उन्नतिलौकिकी पारलौकिकी चापि निश्छला ।
 सूत्र संकेतकस्यास्य विस्तृते हि विवेचने ॥ २९ ॥
 कृतेऽस्यान्तः स्थितानां हि स्वभावगुणकर्मणाम् ।
 श्रेष्ठानां सुसमावेश स्तेषां भवति विद्यते ॥ ३० ॥
 येषां जीवन संस्कारे संबंधो जीवनोन्नतौ ।
 दुर्गुणानां समेषां च तेषां निष्कासनं तथा ॥ ३१ ॥
 परिष्करणमप्यस्मिन् समाविष्टं च सूत्रके ।
 पतनस्य पराभूतेर्हेतवोऽत्र भवन्ति ये ॥ ३२ ॥
 जीवनं लौकिकं येन समृद्धिं तात गच्छति ।
 अध्यात्मप्रगतेर्लक्ष्यं सिध्येत्स धर्म उच्यते ॥ ३३ ॥
 सोऽपि धर्मो नरं कुर्यात्कर्मठं संयमान्वितम् ।

परायणं परार्थं सत्परामर्शो ध्रुवं मुने ॥ ३४ ॥
 शिक्षा सा धर्म एवास्ति मानवं मानवैस्तथा ।
 समष्टौ प्राणिमात्रेण कारयेत्प्रेम संततम् ॥ ३५ ॥
 यो वै यापयितुं व्यक्तिं जीवनं मानवोचितम् ।
 शिक्षयेद् वस्तुतः प्रोक्तं स धर्मो वेदसम्मतः ॥ ३६ ॥

टीका—हे ऋषिवर धर्म शब्द का अत्यंत संक्षिप्त प्रपंचरहित लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति। इस सूत्र संकेत का विस्तृत विवेचन करने पर इसके अंतर्गत उन सभी श्रेष्ठ गुण-कर्म, स्वभावों का समावेश हो जाता है, जिनका जीवन को समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने से सीधा संबंध है। उन सभी दुर्गुणों का सुधार निष्कासन भी इसी सूत्र में समाविष्ट है, जो पतन पराभव का निमित्त कारण बनते हैं। हे तात जिससे लौकिक जीवन की समृद्धि एवं आत्मिक प्रगति की लक्ष्य सिद्धि होती है, वही धर्म है। हे मुनिवर जो व्यक्ति को संयमी, कर्तव्यनिष्ठ, परमार्थपरायण बनाए वही सत्परामर्श धर्म है। जो मानव को मानव एवं समष्टिगत प्राणिसत्ता से सदा प्रेम करना सिखाए, वही शिक्षा धर्म है। जो मानवोचित जीवन जीना सिखाए, वही सच्चा धर्म है ॥ २८-३६ ॥

यहाँ जीवन की उस प्रणाली को धर्म की संज्ञा दी गई है, जिसमें दुर्गुणों को निकालकर उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों का अभ्यास किया जाता है, फिर उन्हें गुण, कर्म, स्वभाव में समाविष्ट कर जीवन को ऐसा उदात्त बना लिया जाता है, जिसमें छल-प्रपंच जैसे निकृष्ट स्तर के क्रियाकलाप की गुंजाइश ही न रहे। यही वह आधार है, जिस पर चलकर व्यक्ति आत्मिक जीवन में प्रगति करता हुआ पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचता है और भौतिक जीवन में सुख, समृद्धि, सफलता जैसी प्रसन्नतादायक स्थिति प्राप्त कर पाता है। इसी से व्यक्ति गत जीवन में सेवा-सहकार जैसे पुण्य परमार्थ एवं समाज निर्माण, व्यक्ति उत्थान जैसे कर्तव्य निभ पाते हैं। इसलिए ऋषि यहाँ उस तत्त्वदर्शन को ही सच्चा धर्म मानते हैं, जो ऐसे मानवोचित जीवन जीने की प्रेरणा देता और प्रेम-सौहार्द का पाठ पढ़ाता हो।

यथा प्राणैविना नैव जीव्यते क्षणमप्यहो ।
 नैति जीवनयात्रैवं धर्मधारणया विना ॥ ३७ ॥
 कारणं चेदमेवास्ति विद्वद्धिधर्ममुत्तमम् ।
 व्याख्यातृभिर्व्यापकं स नीतिकर्तव्यतोदितः ॥ ३८ ॥

टीका—हे तात धर्म मानव जीवन का प्राण है। प्राण वायु के बिना जिस प्रकार एक क्षण भी जीवित नहीं रहा जा सकता, उसी प्रकार धर्म-धारणा को जीवन में उतारे बिना जीवन यात्रा एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती। यही कारण है कि धर्म की एक व्यापक व्याख्या करते हुए विद्वज्जनों ने उसे नीतिमत्ता एवं कर्तव्यपरायणता का ही एकरूप माना

है ॥ ३७-३८ ॥

जिस प्रकार प्राण के बिना कलेवर का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार धर्म-धारणा के बिना मनुष्य जीवन भी निष्प्राण-निरर्थक है। यदि प्राण न रहें, तो मृत कलेवर सड़न और बदबू ही पैदा करता है और जहाँ रहता है, वहाँ वातावरण दूषित करता है।

मानव जीवन के साथ भी यही बात लागू होती है। नीतिमत्ता, कर्तव्यपरायणता, सहयोग, सहकार, प्रेम-सद्भाव को मानव-जीवन का धर्म माना गया है। यदि व्यक्ति इनका परिपालन न करे और मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन न जिए, तो वह ईर्ष्या-कलह, विग्रह, विद्वेष के रूप में दुर्गन्धि ही पैदा करेगा। दुर्गन्धि अर्थात् मौत और ऐसी स्थिति में जब काया ही निष्प्राण हो, तो उसका विकास-विस्तार कैसे संभव हो? प्राण की उपस्थिति में ही यह शक्य हो सकता है।

धर्मविहीन जीवन की भी यही गति होती है। जीवन-विकास होता रहे, इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति धर्म धारणा को जीवन में अपनाए, अन्यथा इसके बिना तो उसकी भाव-संवेदनाएँ पशुतुल्य ही बनी रहेंगी। अस्तु धर्म मनुष्य को जहाँ एक ओर उसे उसकी गरिमा प्रदान कर सच्चे अर्थों में मनुष्य की श्रेणी में ला खड़ा करता है, वहीं दूसरी ओर उसके जीवन विकास को भी गतिमान बनाए रखता है। इस प्रकार एक धर्म के पालन से उसके दो उद्देश्य पूरे होते हैं। इसलिए ऋषि यहाँ धर्म को मानव-जीवन का प्राण की संज्ञा देते हुए प्राणवायु से उसकी तुलना करते हैं और कहते हैं कि जीवित रहने के लिए प्राणवायु की जितनी आवश्यकता महसूस की जाती है, मानव-जीवन के लिए धर्म की भी उतनी ही महत्ता है।

संस्कृतिः भारतीयेषा दैवीसंस्कृतिरुच्यते ।
महतासागरेणेयं विराजा तुल्यतां गता ॥ ३९ ॥
यस्यां विशन्ति निर्यान्ति यस्या भिन्नाः सदाभुवि ।
संप्रदायास्तथासर्वास्तास्ताः संस्कृतयः समाः ॥ ४० ॥
उदारा व्यापका धर्मव्याख्येयं देवसंस्कृतेः ।
यथैतैर्ऋषिभिः प्रोक्ता महत्ताबोधिनी तु सा ॥ ४१ ॥
धर्मस्य धारणायास्तु स्वीकृतेरुपयोगिता ।
वस्तुतोऽत्रास्तियन्त्राणां चिन्तनं प्रोन्नयेत्तु सा ॥ ४२ ॥
आत्मनो गौरवस्येमनुभूतिं तथैव च ।
सुजनतां व्यवहारस्य साहसं वितरेच्च सा ॥ ४३ ॥
धर्मस्य धारणा व्यक्तिमुच्चास्थां प्रतिनिष्ठितम् ।
आस्थायुक्तांकरोत्येवं विश्वं याति कुटुंबताम् ॥ ४४ ॥
यदि सा विग्रहे द्वेषे तथैव च दुराग्रहे ।
समुदेति न सा धर्मः परं विकृतचिंतनात् ॥ ४५ ॥
जाता सा हि मताऽनास्था जन्मदासंप्रदायगा ।

मनोवृत्तिर्यया विश्वं त्रस्तं संदृश्यतेऽभितः ॥ ४६ ॥

टीका—हे तात भारतीय संस्कृति देव संस्कृति है। यह एक विराट् महासागर की तरह है, जिसमें भिन्न-भिन्न धर्म संप्रदाय संस्कृतियाँ आकर मिलती हैं और समय पर निकलती भी रहती हैं। धर्म की व्याख्या जितने उदार एवं व्यापक अर्थों में देवसंस्कृति के पक्षधर ऋषिगणों द्वारा वर्णित की गई है, उससे इसकी महत्ता का बोध होता है। वस्तुतः धर्मधारणा को अपनाने की उपयोगिता इसी में है कि वह मानवी चिंतन का स्तर ऊँचा उठाए। उसे आत्मगौरव की अनुभूति कराने के साथ-साथ सज्जनता को व्यवहार में उतारने का साहस प्रदान करे। धर्म धारणा व्यक्ति को उच्चस्तरीय आस्थाओं के प्रति निष्ठावान बनाती है, जिससे सारा विश्व एक कुटुंब बन जाता है। यदि वह विग्रह, विद्वेष एवं दुराग्रह के रूप में प्रकट होती है, तो उसे धर्म नहीं, अपितु मानव के विकृत-चिंतन से जन्मी, अनास्था को जन्म देने वाली संप्रदायवादी मनोवृत्ति मानना चाहिए, जिससे पग-पग पर विश्व त्रस्त दिखाई देता है ॥ ३९-४६ ॥

भारतीय संस्कृति की सर्वोपरि विशेषता है जीवन और जगत को देखने का उसका आध्यात्मिक दृष्टिकोण। इसके पक्षधर ऋषियों ने जिन उच्चादर्शों की स्थापना की, वह इस संस्कृति की महानता के ही परिचायक हैं। आत्मवत् सर्वभूतेषु वसुधैव कुटुंबकम् निर्वैरिः सर्वभूतेषु, न पापे प्रति पापः स्यात्साधुरेव सदा भवेत्, सर्वे भवंतु सुखिनः आदि ऐसे आदर्श हैं जिन्हें उन्होंने सच्चा मानव धर्म बताया और जीवन पर्यंत इसका परिपालन करते रहे। इन्हीं उदात्तताओं के कारण भारतीय संस्कृति देव संस्कृति कहलाई और उसे अपनाने वाले ऋषि महानता की ऊँचाइयों को छू सके।

इसके विपरीत यदि उनका दृष्टिकोण इतना विशाल न होता, कूपमंडूक रहे होते, स्वार्थपरता अपनाते और हेय चिंतन में ही उलझकर विग्रह-विद्वेषपूर्ण जीवन जीते होते, तो शायद ऋषि कदापि नहीं बन पाते और न यह धरती स्वर्गादपि गरीयसी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर पाती। निस्संदेह इन उपलब्धियों के पीछे उनके देवोपम व्यक्तित्व और धार्मिक कर्तृत्व की ही भूमिका है। उनसे सच्चे अर्थों में धर्म को जिया था और अध्यात्म को जीवन में उतारा था। अस्तु धर्मधारणा की सार्थकता तभी मानी जा सकती है, जब वह व्यक्ति के चरित्र, चिंतन, व्यवहार को ऊँचा उठाए, उच्चस्तरीय आस्थाओं के प्रति निष्ठा जगाए और सही अर्थों में मनुष्य जैसा जीना सिखाए।

संस्कृतिः सभ्यता भिन्नौ यथा शब्दावनर्थतः ।

रक्ष्योऽर्थो संप्रदायं तं भिन्नं मत्वा हि धर्मतः ॥ ४७ ॥

परिस्थितिगताः सर्वे मान्यताऽधिष्ठिताश्च ते ।

५.४६ प्रज्ञोपनिषद्

रीतिप्रचलनास्थाश्च संप्रदायाः सदा भुवि ॥ ४८ ॥

कालप्रभावाद् ये यांति परिवर्तनमंततः ।

धर्मस्तु शाश्वतं तथ्यमध्यात्मं हि सनातनम् ॥ ४९ ॥

टीका—जिस प्रकार संस्कृति और सभ्यता दो पृथक् शब्द हैं, उसी प्रकार धर्म और संप्रदाय को अलग-अलग मानकर अर्थ का अनर्थ होने से बचना चाहिए। संप्रदाय सदा परिस्थितियों, मान्यताओं, प्रचलन एवं रीति-रिवाज पर ही संसार में टिके होते हैं, जो कि समयानुसार बदलते रहते हैं, जबकि धर्म एक शाश्वत-सनातन तथ्य है, जो कि आत्मिकी का पर्याय है ॥ ४७-४९ ॥

विश्व में हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, ताओ, सिंटो, जैन, बौद्ध, यहूदी, पारसी आदि कितने ही मत-मतांतर हैं। इनके क्रिया-कर्मकांडों, प्रथा-प्रचलनों, रीति-रिवाजों में भी जमीन-आसमान जितना अंतर है। सभी के अपने-अपने भगवान और अलग-अलग आचार व नीतिशास्त्र हैं। संबद्ध मतालंबी इन्हीं नीति-नियमों की परिधि में चक्कर काटता हुआ इन्हें ही धर्म मानने का दुराग्रह कर बैठता है, पर वस्तुतः यह धर्म नहीं है, वरन इससे निकलने वाली शाखा-प्रशाखाएँ हैं, इन्हें संप्रदाय कहते हैं। यह समयानुसार बदलते रहते हैं। कपड़े जब जीर्ण-शीर्ण पड़ जाते हैं, तो उन्हें बदलकर नया वस्त्र धारण करना पड़ता है। संप्रदाय ऐसे ही होते हैं। जब ये देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुकूल नहीं रह जाते, पुराने और प्रतिगामी पड़ जाते हैं, तो इन्हें परिवर्तित कर इनकी जगह नए सिद्धांत और आचार-शास्त्र निर्मित करने पड़ते हैं।

तात धार्मिकताऽऽस्तिक्यमध्यात्मं त्रयमेव हि ।

लौकिक्याः प्रगतेर्हेतोरनिवार्या मता मम ॥ ५० ॥

एषु चैकतमं नैव पृथग् द्रष्टुं हि शक्यते ।

परस्परं हि त्रीण्यत्र गुम्फितानीव संततम् ॥ ५१ ॥

प्रोक्ता धार्मिकता कर्मनिष्ठा कर्तव्यपालनम् ।

आस्तिक्यार्थो विराट्सत्ता पर ब्रह्मव्यवस्थितेः ॥ ५२ ॥

अनुशासनसम्मानस्तस्मिन् विश्वस्य स्वं सदा ।

सत्कर्मणामनुष्ठाने योजयेच्च निरंतरम् ॥ ५३ ॥

आध्यात्मिक्यं तथैवात्मसत्ता सामर्थ्य उत्तमे ।

दृढविश्वस्य मानव्यां स्थिता संजीवयत्यमून् ॥ ५४ ॥

कर्मयोगी नरो यः स परब्रह्मानुशासने ।

विनिर्माति स्वकीयां तु श्रेष्ठां जीवनपद्धतिम् ॥ ५५ ॥

आत्मावलंबनं चैव करोत्यस्मै तु यः सदा ।

आस्तिकः स नरः सत्यं मतो धर्मपरायणः ॥ ५६ ॥

टीका—हे तात धार्मिकता, आस्तिकता एवं आध्यात्मिकता। तीनों ही आत्मिक एवं सांसारिक प्रगति हेतु अनिवार्य हैं। इनमें से किसी एक को अलग नहीं देखा जा सकता। तीनों

परस्पर एक दूसरे से गुँथे हैं। धार्मिकता कर्तव्यपरायणता का कर्मनिष्ठा का नाम है। आस्तिकता का अर्थ है उस विराट सत्ता-परब्रह्म की व्यवस्था के अनुशासन को मानना, उस पर विश्वास रखते हुए सदैव स्वयं को सत्कर्मों में नियोजित रखना। आध्यात्मिकता आत्मसत्ता की सामर्थ्य पर दृढ़ विश्वास रख मनुष्यों को मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन जीना सिखाती है। जो कर्मयोगी है, परब्रह्म के अनुशासन के अंतर्गत अपनी जीवन की रीति-नीति बनाता है। इसके लिए जो आत्मावलंबन का आश्रय लेता है, वही सच्चे अर्थों में धर्मपरायण है आस्तिक है ॥ ५०-५६ ॥

परिस्थितय आयाताः परिवर्तनमद्य तु ।

ऋषे धर्मस्वरूपं तु विकृतिं प्रापितो नरैः ॥ ५७ ॥

श्रेष्ठः स्वकीयो धर्मस्तु निकृष्टश्च परस्य सः ।

स्वकीया मान्यताः सत्या असत्या अपरस्य च ॥ ५८ ॥

दुराग्रहोऽ संव्याप्तश्चतुर्दिक्षु जना अपि ।

सामान्यास्तुच्छमूलेषुविषमेषु परस्परम् ॥ ५९ ॥

धर्ममर्मानभिज्ञत्वाद् विग्रहस्य पृथक् स्थितेः ।

विषवल्लरिका पुष्टौ जायंते दृष्टिगोचराः ॥ ६० ॥

एको धर्मस्तथैकः स ईश्वरोऽस्तीति मान्यताम् ।

मत्वा मिथ्यां स्वकीयां च श्रेष्ठतां घोषयत्यहो ॥ ६१ ॥

दुराग्रहः पक्षपातः सत्यस्य स्वीकृतिस्सदा ।

निषेधत इहैतीत्यं संप्रदायोऽविवेकताम् ॥ ६२ ॥

टीका—हे ऋषिवर आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। धर्म का स्वरूप विकृत कर दिया गया है। अपना धर्म श्रेष्ठ दूसरे का निकृष्ट, अपनी मान्यता सच्ची, दूसरे की झूठी। यह दुराग्रह ही चारों तरफ संव्याप्त है। सामान्यजन छोटी-छोटी बातों पर धर्म का मर्म न समझ पाने के कारण परस्पर झगड़ते, विग्रह एवं अलगाव की विषवेलि का पोषण करते दृष्टिगोचर होते हैं। धर्म एक है, इस मान्यता को झुठला कर सभी अपनी श्रेष्ठता की दुहाई देते नजर आते हैं। पक्षपात और दुराग्रह सत्य को समझने से इंकार कर देता है और ऐसी स्थिति में समुदाय विवेक ही खो बैठता है ॥ ५७-६२ ॥

जिस प्रकार समस्त विश्व के लिए सूर्य-चंद्र एक हैं और अपनी उत्पत्ति के आरंभ से अब तक एक जैसी स्थिति में बने हुए हैं, उसी प्रकार समस्त मानव का एक ही धर्म है। वह चाहे किसी भी देश अथवा समय से संबद्ध हो सदा एक जैसा रहता है, और प्रेम-सद्भाव, सहयोग-सहकार की ही शिक्षा देता है, किंतु दुर्भाग्यवश आज इसने अपना सार्वभौम स्वरूप ही खो दिया है और जो स्वरूप अपनाया है, वह संप्रदायवाद का पक्षधर है। हम संप्रदाय को धर्म मान बैठे हैं। इतने पर भी विडंबना यह है कि हम उसके श्रेष्ठ व व्यावहारिक पक्ष को अपनाने की तुलना में कौन पंथ श्रेष्ठ कौन निकृष्ट

इसी उलझन में पड़े रहते हैं, जिससे न तो अपना कल्याण हो पाता है, न ही समाज का, उलटे इसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं। यदि गंभीरतापूर्वक विचारा जाए तो पाएँगे कि सभी संप्रदायों के मूल सिद्धांत प्रायः एक ही हैं, पर धर्मध्वजी अपना बड़प्पन और स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अपने-अपने पंथों की श्रेष्ठता का बखान करते और दूसरे मतों को नीचा दिखाने की हठधर्मिता अपनाते हैं, फलतः विग्रह पनपता है और मनोमालिन्य बढ़ता है, द्वेष उपजता है और दुराग्रह बढ़ता है, जिससे धर्म, धर्म न रहकर अधर्म का पृष्ठपोषण करता दिखाई पड़ने लगता है।

अद्य धर्मो विभिनैश्च समुदायैर्नरैरपि ।

गृहीतः साधनत्वेन पूर्तये तूदरस्य सः ॥ ६३ ॥

विस्मृत्य धर्ममर्मेते सर्वेऽकर्मठतां श्रिताः ।

पराश्रयं हि जीवति बाधन्तेऽज्ञांश्च शोषणैः ॥ ६४ ॥

धर्मोपदेशकानां च वेषेणाच्छन्नमूर्तयः ।

दृश्यन्तेऽसंख्यका धर्मधृतिर्येषां न जीवने ॥ ६५ ॥

वस्तुतत्त्वानभिज्ञास्ते धर्मबद्धादराः दृढाः ।

भावुकाः पुरुषाः प्रायो धर्मोन्मादिनृणामिह ॥ ६६ ॥

एतादृशानां तर्कैस्त्वैर्मान्यताभिर्वृता विषम् ।

वमन्तः संप्रदायेषु समाजं ध्वंसयन्ति ते ॥ ६७ ॥

समस्यास्ति वाञ्छेयं जनः साधारणस्तुतम् ।

धर्मस्यार्थं विजानीयान् मन्येतापि च शाश्वतान् ॥ ६८ ॥

सिद्धान्तानथसद्भावान्निवसन्तु तथैव च ।

व्यवहरन्तु च निःशंकं सर्वेऽप्येते परस्परम् ॥ ६९ ॥

सम्भवेच्च तदैवैतत्समुदायेषु समेषु ते ।

धर्मसंस्कृतिदूतास्तु कुर्युस्तामतिविस्तृताम् ॥ ७० ॥

टीका—आज धर्म को किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों अथवा समुदायों ने उदरपूर्ति का साधन बना लिया है, इसमें जरा भी संदेह नहीं। धर्म का मर्म कर्तव्य-परायणता को भूलकर वे अकर्मण्य, परावलंबी जीवन जीते एवं दूसरे नासमझ व्यक्तियों का शोषण करते दिखाई देते हैं। धर्मोपदेशक का लबादा ओढ़े ऐसे अगणित व्यक्ति देखे जा सकते हैं, जिनके जीवन में धर्मधारणा का किंचित् मात्र भी अंश नहीं होता। वास्तविकता को न जान-पाने एवं धर्म के प्रति अपनी दृढ़ आस्था होने के कारण भावुक व्यक्ति बहुधा ऐसे धर्मोन्मादियों के तर्कों-मान्यताओं के चंगुल में फँसकर तथाकथित संप्रदायवाद का विष उगलते, समाजरूपी भवन को ध्वस्त करते दिखाई देते हैं। समय की माँग है कि जनसाधारण धर्म के सही अर्थ को समझें, धर्म के शाश्वत सिद्धांतों को मानें एवं परस्पर निःशंक होकर सद्भाव से व्यवहार करना सीखें। यह तभी संभव है, जब सारे समुदाय में धर्म संस्कृति के अग्रदूत सर्वधर्म समभाव की भावना का विस्तार करने का सत्साहस करें ॥ ६३-७० ॥

सार्वभौम धर्म में, धर्म का एक अर्थ कर्तव्य-परायणता-कर्मनिष्ठा भी है। जो मानवोचित जीवन के अनुकूल हो, उन कर्तव्यों का निर्वाह करना और सेवा-श्रमरत रहकर ही जीवन व्यतीत करना इसे सर्वोपरि धर्म माना गया है। इस दायित्व की अनदेखी करना और अकर्मण्य परावलंबी जीवन जीना व्यक्ति को धर्मच्युत बनाता है तथा ऐसी स्थिति में पहुँचाता है, जहाँ सिवाए चिंतन-प्रदूषण के और कुछ नहीं बन पड़ता है।

आज तथाकथित धार्मिकों और धर्मोपदेशकों की यही दशा है। धर्म का स्वांग तो वे बढ़-चढ़कर लेते हैं, पर जहाँ कथनी और करनी का, आचरण व व्यवहार का प्रश्न आता है, वहाँ उनकी अपनी स्थिति ढोल की पोल जैसी बन जाती है। ऐसे में जब उन्हें पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान नहीं मिल पाता, तो वे धर्म की आड़ लेकर तरह-तरह के ढोंग रचते और भोले-भाले लोगों को अपने कुचक्र में फँसाते एवं उनके नेता बन बैठते हैं। इस प्रकार इन धर्मभीरु लोगों द्वारा उनकी उदरपूर्ति होती रहती है, तथा बदले में वे सांप्रदायिकता का विष-बीज बोकर समाज में फूट-फसाद पैदा करते तथा अवसर का अनुचित लाभ उठाते हैं।

समाज को इस दुरावस्था से उबारने का एक ही उपाय है कि सभी मत-मतांतरों के जीवन जागरूक प्रतिनिधि उभरकर सामने आएँ और शाश्वत धर्म के तत्त्वदर्शन को अपने-अपने प्रकार से जनसामान्य को समझाएँ कि सभी धर्मों का सार एक ही है कर्तव्य-परायणता-न्यायनिष्ठा। इससे एक ही साथ दो उद्देश्य पूरे होंगे धर्म के सही मर्म को समझ सकेंगे तथा सर्वधर्म समभाव की भावना का विस्तार होने से वैमनस्य और कटुता का दुर्भाव मिटेगा तथा समाज में सौमनस्य का वातावरण बनेगा।

भवतः प्रतिपाद्यानि बुद्धियुक्तानि देव तु ।

लाभा अपि न सन्दिग्धास्तथाप्येतत्तु दृश्यते ॥ ७१ ॥

अनेका व्यक्तयो राजमार्गं त्यक्त्वा तृणाकुलम् ।

अपथं यांति शोचन्ति मन्यन्ते ऽयोग्यमान्यताः ॥ ७२ ॥

देव! धर्मस्य सिद्धान्तान् सार्वभौमान् वद प्रियान् ।

समस्तानां च धर्माणां संप्रदायेषु सम्मतान् ॥ ७३ ॥

तेषामेव करिष्यामो विवक्तिं च प्रचारणम् ।

संकीर्णा येन ज्ञास्यन्ति भिन्नतां सत्यरोधिनीम् ॥ ७४ ॥

सत्याविरोधिनीं चात्र वस्तुतत्त्वेकतां समे ।

ब्रह्मज्ञो सुप्रसन्नोऽभूदुवाचार्थयुतं वचः ॥ ७५ ॥

टीका—ब्रह्मचारियों ने कहा भगवन आपके द्वारा व्यक्त किए गए सभी प्रतिपादन सर्वथा बुद्धि संगत दीखते हैं। उनके लाभ भी असंदिग्ध हैं इतने पर भी देखा जाता है कि अधिकांश लोग इस राजमार्ग को छोड़कर झाड़-झंखाड़ जैसी पगडंडियों पर भटकते हैं, उलटा सोचते और अनुपयुक्त मान्यताएँ अपनाते

५.४८ प्रज्ञोपनिषद्

हैं। हे देव उन धर्म सिद्धांतों को बताइए जो सार्वभौम हैं। हम उन्हीं का विवेचन और प्रचार करेंगे। इससे संकीर्णतावादी यह समझने में समर्थ होंगे कि भिन्नता अवास्तविक है और एकता वास्तविक। यह सुनकर ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य बहुत प्रसन्न हुए और सारगर्भित वाणी में बोले ॥ ७१-७५ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच-

सार्वभौमस्य धर्मस्य व्याख्येयमृषित्तम ।
दशभिर्धर्मसारैस्तैः शक्या कर्तुं हि लक्षणैः ॥ ७६ ॥
सर्वेषां प्राणरूपाश्च धर्माणां संति ते ध्रुवम् ।
धर्मतत्त्व विविक्तौ च स्वेनैव विधिना समे ॥ ७७ ॥
एतेषामेव शाखानां कुर्वते तु निरूपणम् ।
युग्मैः पञ्चभिरप्यत्र ज्ञातुं शक्यानि पूर्णतः ॥ ७८ ॥
लक्षणानि तु धर्मस्य सर्वाणीमानि मानवैः ।
युग्मेष्वन्यतमं वक्तुं शक्यते मुनिपुंगव ॥ ७९ ॥
समन्वयं तु सत्यस्य विवेकस्य परस्परम् ।
युज्यते संयमं वक्तुं कर्तव्यं च द्वितीयकम् ॥ ८० ॥
मर्यादापालनं सर्वं तृतीयमनुशासनम् ।
पराक्रमस्य तुर्येऽस्ति सौजन्यस्याथ मिश्रणम् ॥ ८१ ॥
सहकारं परार्थं च पञ्चमं मन्यतामिह ।
पञ्चस्वेतानि वक्तुं वा शक्यान्यथदशस्वपि ॥ ८२ ॥
न्यूनाधिकासु संख्यासु सामान्यानां हितेच्छया ।
दैवीसंपत्ति - नाम्नेमान् गीताकारो व्यभूषयत् ॥ ८३ ॥
समेषां सारसंक्षेपो वक्तुं शक्यत एव तु ।
कर्तव्यपालनं सामाजिकदायित्वनिर्वहः ॥ ८४ ॥
जीवनस्य परिष्कारः समुदायोदयस्य च ।
सारनिष्कर्ष एवास्ति लक्षणेषु दशस्वपि ॥ ८५ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले, हे ऋषिश्रेष्ठ सार्वभौम धर्म की व्याख्या-विवेचना धर्म के सार तत्व दस लक्षणों से की जा सकती है। वे ही सब धर्मों के प्राण हैं। इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ धर्मतत्व विवेचना में अपने-अपने ढंग से निरूपित की जाती है। इन्हें मानव मात्र के द्वारा पाँच युग्मों के रूप में भी जाना जा सकता है। हे मुनिवर इन युग्मों में से एक को सत्य और विवेक का समन्वय कह सकते हैं। दूसरे को संयम और कर्तव्य कहा जाना चाहिए। तीसरे को मर्यादापालन और अनुशासन निर्वाह कहते हैं। चौथे में सौजन्य और पराक्रम का सम्मिश्रण है। पाँचवें को सहकार-परमार्थ कहना चाहिए। इन्हें सामान्य व्यक्तियों की बोध दृष्टि से पाँच-दस या न्यूनाधिक संख्या में भी कहा जा सकता है।

इन्हीं को गीताकार ने दैवी संपत्ति के नाम से विभूषित किया है। इन सबका सार-संक्षेप कहना हो तो उसे कर्तव्य पालन और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह भी कह सकते हैं। जीवन के सर्वांगपूर्ण परिष्कार एवं समष्टिगत मानव समुदाय

के अभ्युदय का सार-निष्कर्ष धर्म के इन दस लक्षणों में सन्निहित है ॥ ७६-८५ ॥

यहाँ ऋषि सार्वभौम धर्म की व्याख्या सत्य, विवेक, संयम, कर्तव्य, मर्यादापालन, अनुशासन, सौजन्य, पराक्रम, सहकार, परमार्थ के दस प्रमुख लक्षणों के रूप में करते हैं और कहते हैं कि भिन्न-भिन्न धर्मों में यही पाँच युग्म अपने-अपने प्रकार से वर्णित हैं। इन्हें धर्म का सार माना गया है। मनुष्य के सारे कर्तव्य और दायित्व इन्हीं पाँच युग्मों के दायरे में आते हैं, अतः जो इनका परिपालन भली-भाँति कर लेते हैं, जीवन में धर्म का निर्वाह भी उन्हीं से बन पड़ता है और वैसे ही लोग आत्मपरिष्कार और आत्मोत्थान की कठिन परीक्षा उत्तीर्ण करने में सफल हो पाते हैं।

तात ! धर्म कर्मकांड पर्यन्तं रीतिसीमितम् ।
स्थितं प्रचलनेष्वत्र मन्यन्ते पुरुषास्तु ये ॥ ८६ ॥
कुर्वते हृदगतं ते नास्तिकता तत्त्वदर्शनम् ।
अतएव त्रसन्त्येते संक्षोभभरितं पुनः ॥ ८७ ॥
जीवनं यापयन्तस्ते दृश्यन्ते परितो भुवि ।
धर्ममर्माधिगता यस्तेन प्राप्तो हि वस्तुतः ॥ ८८ ॥
मार्गो यः प्रापयेन्मर्त्यं सीमानं परमात्मनः ।
धर्मो रक्षति तं यो वै धर्मं सम्मनुते स्वयम् ॥ ८९ ॥
न चलेद्धर्ममार्गं यस्तं स नाशान्त्रायते ।
सन्ति ये तु नरश्रेष्ठ ! सत्या धर्मपरायणाः ॥ ९० ॥
स्वानां भगवतां नैव विनिर्माणोन्मुखास्तु ये ।
तेषां नाम्ना न कुर्वन्ति विग्रहादिविडंबनाम् ॥ ९१ ॥
मन्यन्ते केवलं तस्याः सत्ताया अनुशासनम् ।
एतादृशास्तु सन्त्यत्र ये ये वै नरपुंगवाः ॥ ९२ ॥
आस्तिका वस्तुतः सर्वे ते हि धर्मपरायणः ।
सारगर्भं समाधानं श्रुत्वाऽपृच्छत्स्वयं नतः ॥ ९३ ॥

टीका—हे तात धर्म को कर्मकांड तक, प्रचलन-रीति रिवाजों तक सीमित मानने वाले व्यक्ति आस्तिकता के तत्त्वदर्शन को हृदयगम नहीं कर पाते। इसी कारण त्रास पाते, संक्षोभों-विक्षोभों से भरा जीवन जीते पृथ्वी पर चारों ओर देखे जाते हैं। जिसने धर्म का मर्म जान लिया, समझ लेना चाहिए कि उसने परमात्मसत्ता तक पहुँचने का सच्चा मार्ग खोज लिया। हे नरश्रेष्ठ धर्म उसी की रक्षा करता है, जो धर्म को मानता है। पर जो उसके कहे पर नहीं चलता, धर्म स्वयं उसे नाश से नहीं बचा पाता है। सच्चे धार्मिक व्यक्ति अपना भगवान स्वयं विनिर्मित करने, उस नाम पर भाँति-भाँति के विग्रह खड़े करने की विडंबना में न उलझकर उस एक परमसत्ता के अनुशासन को ही मानते हैं। ऐसे नर पुंगव ही सही अर्थों में आस्तिक, धर्मपरायण कहलाते हैं। अपनी जिज्ञासा का सारगर्भित समाधान सुनकर कृतकृत्य हृदय से ऋषि कौण्डिन्य

ने खड़े होकर विनम्र भाव से पूछा ॥ ८६-९३ ॥

यहाँ सच्चे आस्तिक और धर्मपरायण व्यक्ति की परिभाषा दी गई है। ऋषि कहते हैं कि सच्चा धार्मिक वह नहीं, जो धर्म को प्रथा-प्रचलन, रीति-रिवाज, विधि-विधान के रूप में देखता है, वरन् यह है, जो परब्रह्म के अनुशासन को सर्वोपरि मानकर चलता और उसका पालन करता है। मिलिट्री में सच्चा सैनिक उसी को माना जाता है, जो अनुशासन पूर्वक चलकर निष्ठापूर्वक कर्तव्यों का पालन करता हो। पदोन्नति ऐसे ही सैनिकों को मिल पाती है, किंतु जो अनुशासन भंग करने तथा कर्तव्यों की उपेक्षा बरतने की धृष्टता करते हैं वे तरह-तरह के दंड पाते और बरखास्त भी कर दिए जाते हैं।

धर्म को ईश्वरीय अनुशासन माना जा सकता है। जो इसे जीवन में सही-सच्चे ढंग से निभा लेता है, वही अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए जीवन-विकास कर पाता है, पर जो ऐसा नहीं कर पाता, वह तरह-तरह के त्रास पाता हुआ पतन-पराभव के गर्त में समा जाता है।

कौण्डिन्य उवाच—

देव ! धर्मस्तु व्याख्यातो यथाऽयं भवता वयम्।

धन्या जातास्तु तेनाथ यश्चैतन्मर्मजीवने ॥ ९५ ॥

धारयिष्यति सोऽवश्यमात्मनः प्रगतेः स्वतः।

दुर्लभां लक्ष्य-सिद्धिं तामञ्जसैव गमिष्यति ॥ ९६ ॥

टीका—कौण्डिन्य बोले हे देव धर्म की व्याख्या जिस

प्रकार आपने की है, उसमें हम सभी धन्य हुए हैं। जो भी इस मर्म को जीवन में उतारेगा, वह निश्चित ही आत्मिक प्रगति की दुर्लभ लक्ष्य सिद्धि को सरलता से प्राप्त कर लेगा ॥ ९४-९५ ॥

पूर्णतामद्य संप्राप्तः समयस्तु यतस्ततः ।

गोष्ठीं समापयंस्तां स सत्राध्यक्ष उवाच यत् ॥ ९६ ॥

भद्राः धर्मधृतेः सोऽयं प्रसंगो जटिलस्तथा।

विस्तृतोऽस्ति दिनेनैव व्याख्यातुं नैव संभवम् ॥ ९७ ॥

उचितं तत एवैतत् प्रसंगोऽस्मिन् पुनस्त्विह।

भवेत्तन्मथनं मान्याः निष्कर्षं प्राप्तुमुत्तमम् ॥ ९८ ॥

महर्षयः समेऽप्यस्माद् याज्ञवल्क्यं प्रणम्य च।

प्रस्थिताः स्वकुटीरांस्ते चिंतनैकरतास्ततः ॥ ९९ ॥

टीका—चूँकि आज समय पूरा हो चुका था, अतः सत्राध्यक्ष ने ज्ञानगोष्ठी के समापन की घोषणा करते हुए कहा, उपस्थित भद्र जनो धर्मधारणा संबंधी प्रस्तुत प्रसंग काफी जटिल एवं लंबा है। एक दिन में इस विषय पर पूरी चर्चा हो पाना संभव नहीं है। अतः उचित होगा कि इस प्रसंग पर कल और मंथन किया जाए, ताकि हम अंतिम निष्कर्ष तक पहुँच सकें। सभी महर्षि याज्ञवल्क्य का अभिवादन कर वहाँ से संध्या-वंदन हेतु अपनी-अपनी कुटिया को चिंतन में संलग्न होते हुए प्रस्थान कर गए ॥ ९६-९९ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते धर्म धारणा इति प्रकरणो नाम पंचमोऽध्यायः ॥